॥ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ॥

श्रीमद्भगवद्गीतोक्त भगवत्प्राप्ति का उपाय

तथा श्रीगुर्वाष्टक, सेवा अपराध और नाम अपराध

॥ गोपालनन्दनं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

श्रीहरिदास शास्त्री

॥ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धागोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

श्रीमद्भगवद्गीतोक्त भगवत्प्राप्ति का उपाय

तथा श्रीगुर्वाष्टक, सेवा अपराध और नाम अपराध

॥ गोपालनन्दनं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

श्रीधाम वृन्दावन वास्तव्येन न्याय वैशेषिक शास्त्रि, नव्य
न्यायाचार्य, काव्य, व्याकरण, साङ्ख्य, मीमांसा,
वेदान्त, तर्क, तर्क, न्याय, वैष्णवदर्शनतीर्थ,
विद्यारत्नाद्युपाध्यलङ्कृतेन
श्रीहरिदास शास्त्रिणा
सङ्गृहीतः ।

प्रकाशक :-

श्रीहरिदास शास्त्री

संस्थापक एवं अध्यक्ष :-

श्रीहरिदास शास्त्री गोसेवा संस्थान

श्रीहरिदास निवास, पुरानी कालीदह,

वृन्दावन, मथुरा, (उत्तर प्रदेश)।

प्रकाशन तिथि :

श्रीनृसिंह जयन्ती महोत्सव, वैशाख चतुर्दशी, शुक्ल पक्ष

सम्वत् २०६९, श्रीगौराङ्गाब्द ५२७

प्रथम संस्करण

प्रकाशन सहायता- ५०/- रुपये

सद्ग्रन्थ प्रकाशक :-

श्रीहरिदास शास्त्री

श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस,

श्रीहरिदास निवास, पुराना कालीदह,

वृन्दावन, मथुरा, (उत्तर प्रदेश)।

॥ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ॥

श्रीमद्भगवद्गीतोक्त भगवत्प्राप्ति का उपाय

(हिन्दी अनुवाद सहित)

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्य्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१२/१

अर्जुन ने पूछा–

जो अनन्य भक्तगण पूर्वोक्त* प्रकार से निरन्तर आपमें निष्ठाशील होकर आपकी उपासना करते हैं, और दूसरे जो केवल अव्यक्त अक्षर ब्रह्म को भजते हैं, उन दोनों प्रकार के उपासकों में से अति उत्तम योगवेत्ता कौन है?

(यहाँ पर अर्जुन यह जानना चाहते हैं कि भक्तियोगी और ज्ञानयोगी में कौन श्रेष्ठ है?)

***मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।**
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥११/५५॥

हे पाण्डव! जो पुरुष केवल मेरे लिए ही कर्म करने वाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, मद्विमुख संसर्ग रहित है, और समस्त प्राणियों में वैरभाव रहित है, वह मुझको प्राप्त करता है।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥१२/२॥

श्रीभगवान् ने कहा–

जो परा अर्थात् निर्गुण श्रद्धा के साथ मुझमें अपने मन को आविष्ट करके निरन्तर मेरी उपासना में लगे हुए रहते हैं, वे सर्वश्रेष्ठ योगवित् हैं; ऐसा मेरा मत है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ १२/५॥

अव्यक्त निराकार ब्रह्म में आकृष्ट चित्त वाले व्यक्ति को अत्यधिक क्लेश होता है। इसका कारण यह है कि देहाभिमानियों के द्वारा अव्यक्त विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥१२/६॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ १२/७

परन्तु जो लोक मेरी प्राप्ति के लिए भक्ति विक्षेपक समस्त कर्मों को परित्याग करके मेरे परायण होकर अनन्य भक्तियोग से मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, हे पार्थ! मुझमें आविष्टचित्त उन भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार सागर से उद्धार करने वाला होता हूँ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ १२/८

मुझमें (मेरे श्यामसुन्दर आदि स्वरूपों में) अपने मन को लगाओ, और मुझमें ही बुद्धि का निवेश करो अर्थात् मेरा मनन करो। इससे तुम आगे चलकर मेरे समीप में निवास करोगे, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥ १२/९

हे धनञ्जय! यदि तुम चित्त को मुझमें अचलरूप से स्थापन करने में समर्थ नहीं हो तो अभ्यासयोग के द्वारा मुझको प्राप्त करने के लिए इच्छा करो।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥१२/१०

अभ्यास में भी असमर्थ होने से तुम मत्कर्मपरायण होओ अर्थात् मद्विषयक श्रवण, कीर्त्तन, मन्दिरमार्जन, गोसेवा, गुरुसेवा इत्यादि मेरे कर्मों को करो। इस प्रकार मेरे लिए कर्मों को करते हुए तुम सिद्धि को प्राप्त करोगे अर्थात् मुझको प्राप्त करोगे।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ १२/११

यदि तुम मत्कर्मपरायण होने में भी असमर्थ हो तो मुझमें

सर्वकर्मफल अर्पणरूप* मेरे योग का आश्रय करके संयतचित्त वाला होकर समस्त कर्मों के फलों का त्याग करो।

***यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।**
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुस्व मदर्पणम्॥ ९/२७॥

हे कौन्तेय! तुम जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ भोजन करते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो कुछ दान देते हो, और जो भी तप करते हो, वह सब मुझको अर्पण करो।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥१२/१२

कारण– अभ्यास की अपेक्षा मुझमें ही बुद्धि का निवेशरूप ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान से भी मेरा ध्यान श्रेष्ठ है। ध्यान से कर्मफल का त्याग होता है तथा त्याग के बाद शान्ति प्राप्त होती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

॥ १२/१३-१४॥

सभी भूतों के प्रति द्वेषभाव से रहित, मित्रता का भाव रखने वाला, करुण, ममताशून्य, अहङ्कार से रहित, सुख-दुःख की प्राप्ति में सम, तथा क्षमावान् (अपराधी को भी अभय देने वाला), सन्तुष्ट,

सततयोगी अर्थात् भक्तियोग युक्त, क्षोभ रहित, मुझमें दृढ़ निश्चय वाला और मुझमें अर्पित मनबुद्धि वाला जो मेरा भक्त है, वह मुझको प्रिय है अर्थात् वह मुझको अतिशय प्रीति प्रदान करता है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १२/१५॥

जिनसे कोई भी लोक उद्वेग को नहीं प्राप्त होते, जो स्वयं भी किसी से उद्वेग को नहीं प्राप्त होता, तथा जो हर्ष, असहिष्णुता, भय और उद्वेग से मुक्त है, वह भक्त मुझको प्रिय है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १२/१६॥

व्यवहारिक कार्यों में अपेक्षा रहित, बाहर एवं भीतर से शुद्ध, दक्ष अर्थात् स्वशास्त्रार्थ विमर्श में समर्थ, उदासीन अर्थात् व्यवहारिक लोक समूह में अनासक्त, व्यथा से मुक्त, समस्त दृष्ट-अदृष्ट व्यवहारिक आरम्भों का परित्यागी अर्थात् भक्ति के प्रतिकूल अखिल उद्यम रहित जो मेरा भक्त है वह मुझको प्रिय है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥१२/१७

जो प्रिय वस्तु की प्राप्ति में हर्षित नहीं होता है, अप्रिय की प्राप्ति में द्वेष नहीं करता है, प्रिय वस्तु के नष्ट होने पर उसके

लिए शोक नहीं करता है, अप्राप्त की आकाङ्क्षा नहीं करता है, पाप-पुण्य दोनों को भक्ति का प्रतिबन्धक जानकर उन दोनों का परित्याग करता है और जो मुझमें भक्तिमान् है वह मेरा प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥१२/१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥१२/१९

शत्रु, मित्र, मान, अपमान, शीत, उष्ण, सुख, दुःख में सम; लौकिक वस्तुओं में आसक्ति रहित; निन्दा-स्तुति में तुल्यबुद्धि; संयतवाक्, इष्ट में मननशील, शरीरादि का निर्वाह के लिए जो कुछ भी प्राप्त हो जाता है उसी में सन्तुष्ट, रहने के स्थान में ममता और आसक्ति रहित, स्थिरबुद्धि वाला भक्तिमान् मनुष्य मुझको प्रिय है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्य्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥१२/२०

परन्तु जो लोग उपरोक्त (गीता के अध्याय १२ में 'मय्यावेश्य मनो ये मां' से लेकर 'ये तु धर्म्यामृतमिदं' तक कहे गये) इस धर्मरूप अमृत की भलीभाँति उपासना करते हैं, वे श्रद्धावान् मेरे परायण भक्तगण मुझको अतीव प्रिय हैं।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १३/२॥
क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ १३/३॥

श्रीभगवान् ने कहा—

हे कौन्तेय! यह भोगायतन शरीर क्षेत्र नाम से अभिहित होता है; एवं जो इसको जानता है वह क्षेत्रज्ञ नाम से, इन दोनों के रहस्य को जानने वाले विद्वद्गण ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार देखते हैं कि क्षेत्रज्ञान के कारण जीवात्मा को क्षेत्रज्ञ कहा गया है। परन्तु परमात्मा का उससे भी परिपूर्णरूप से सभी क्षेत्रों अर्थात् शरीरों को जानने के कारण क्षेत्रज्ञत्व को कहते हैं—

हे भारत! सर्वक्षेत्रों में नियन्त्रणकर्त्ता के रूप में स्थित मुझ परमात्मा को क्षेत्रज्ञ जानो। इस प्रकार देहरूप क्षेत्र और जीवात्मा एवं परमात्मारूप क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वास्तव में वही ज्ञान है; ऐसा मेरा मत है।

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १३-१३॥

जो जानने का विषय है, उसको प्रकृष्टरूप से कहता हूँ, जिसको जानने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। वह अनादि मदाश्रित ब्रह्म न सत् न असत् अर्थात् कार्यकारण से अतीत कहा जाता है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयञ्चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १३/१९॥

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय संक्षेप में कहा गया। मेरा भक्त इन सबको अच्छी तरह से जानकर मेरे प्रेम को प्राप्त करने के योग्य होता है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥१३/२८

जो पुरुष विनष्ट होते हुए समस्त भूतों में परमेश्वर को नाश रहित और समभाव से स्थित देखता है, वही यथार्थ में देखता है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥१३/२९

क्योंकि वह सभी में समभाव से अवस्थित परमेश्वर को देखता हुआ अपने मन के द्वारा अपने को अध:पतित नहीं करता, इसलिए वह परम गति को प्राप्त होता है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ १३/३३

जिस प्रकार सर्वत्र अवस्थित आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देह में सर्वत्र अवस्थित परमात्मा देह के गुण-दोषों से लिप्त नहीं होते हैं।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ १३/३५

जो इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञद्वय (जीवात्मा और परमात्मा) के भेद को तथा ज्ञाननेत्रों के द्वारा प्रकृति से प्राणियों के मोक्ष के उपाय को जानते हैं, वे परम पद को प्राप्त होते हैं।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥१४/१॥

श्रीभगवान् ने कहा—

ज्ञानसमूह में परमश्रेष्ठ ज्ञान पुनः कहूँगा, जिसको जानकर समस्त मुनिगण इस संसार से मुक्तिलक्षणा परम सिद्धि को प्राप्त हुये हैं।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ १४/२

इस ज्ञान को आश्रय करके मेरे साधर्म्य अर्थात् सारूप्य लक्षणा मुक्ति को प्राप्त हुए मुनिगण सृष्टिकाल में भी पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलय काल में भी व्यथा को प्राप्त नहीं होते।

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १४/१९

जिस समय द्रष्टा जीव तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य

किसी को कर्त्ता नहीं अनुभव करता है तथा तीनों गुणों से श्रेष्ठ और भिन्न आत्मा को जान जाता है, उस समय वह मेरे स्वरूप (सायुज्य) को प्राप्त होता है। (इस प्रकार का ज्ञान होने पर भी मेरे भाव को प्राप्त करने के लिए मेरी परा भक्ति की अनिवार्यता है, इसका स्पष्टीकरण छब्बीसवें श्लोक से होता है।)

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ १४/२५॥

जो मान और अपमान में समान रहता है, मित्र और वैरी के पक्ष में भी समान रहता है अर्थात् दोनों में प्रभु का दर्शन करके यथोचित व्यवहार करता है, एवं भक्तिपोषक कर्मों के अतिरिक्त सम्पूर्ण कर्मों का परित्याग करने वाला है, वह गुणातीत कहा जाता है।

माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१४/२६

जो अव्यभिचारी भक्तियोग के द्वारा केवल मुझ कृष्ण की सेवा करते हैं, वे इन गुणों को भलीभाँति लाँघकर ब्रह्म को अनुभव करने के योग्य हो जाते हैं।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥१४/२७

क्योंकि, मैं परम प्रतिष्ठित ब्रह्म और अमृत अर्थात्

नाशरहित मोक्ष का आश्रय हूँ। साधन-फल इन दोनों दशाओं में नित्यस्थित भक्ति नामक परमधर्म तथा इस परमधर्म का प्राप्य ऐकान्तिक भक्त सम्बन्धी सुख अर्थात् प्रेम की मैं प्रतिष्ठा हूँ। [अतः सबकुछ मेरे अधीन होने के कारण कैवल्य की कामना से किये गये मेरे भजन से ब्रह्म में लीयमान ब्रह्मत्व की भी प्राप्ति होती है।]

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१५/१

श्रीभगवान् ने कहा–

यह संसार ऊपर की ओर जड़वाला और नीचे की ओर शाखाओं वाला अश्वत्थ वृक्ष कहा गया है। वेद समूह इसके पत्ते हैं। जो इस वृक्ष को जानता है वह वेदवित् है।

[इस श्लोक की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठक्कुर कृत सारार्थवर्षिणी टीका का हिन्दी अनुवाद–

इस पन्द्रहवें अध्याय में संसार का छेदक असङ्ग, जीवात्मा ईश्वर का अंश, और क्षर-अक्षर से उत्तम पुरुष कृष्ण हैं, इन तीन विषयों का वर्णन हुआ है।

पूर्व अध्याय (१४/२६)में 'जो अव्यभिचारी भक्तियोग के द्वारा केवल मुझ कृष्ण की सेवा करते हैं, वे इन गुणों को भलीभाँति लाँघकर ब्रह्म को अनुभव करने के योग्य हो जाते हैं' ऐसा कहा गया

है। यहाँ आपके (श्रीकृष्ण) कथन में आप मनुष्य की भक्तियोग से कैसे ब्रह्मभाव हो सकता है? उत्तर में कहते हैं– (१४/२६) 'हाँ मैं मनुष्य ही हूँ, किन्तु मैं ही ब्रह्म की भी प्रतिष्ठा अर्थात् परमाश्रय हूँ'; इसी सूत्र का वृत्तिस्थानीय यह पन्द्रहवाँ अध्याय आरम्भ करते हैं। वहीं (१४/२५) कहा गया है– 'वे इन गुणों को भलीभाँति लाँघकर ब्रह्म के अनुभव के योग्य हो जाते हैं' इस कथन के अनुसार गुणमय यह संसार क्या है?, कहाँ से यह प्रवृत्त हुआ है?, आपकी भक्ति से संसार का अतिक्रमण करके ब्रह्म के अनुभव के योग्य हो जाने वाला जीव ही क्या है?, ब्रह्म ही क्या है? तथा मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ (१४/२६), इस उक्ति के अनुसार ब्रह्म की प्रतिष्ठा आप ही क्या हैं? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर की अपेक्षा से अतिशयोक्ति अलङ्कार के द्वारा 'यह संसार अद्भुत अश्वत्थ वृक्ष है' इसका वर्णन करते हैं–

ऊर्ध्वे अर्थात् समस्त लोकों के ऊपर सत्यलोक में प्रकृतिबीज से उत्थित प्रथमप्ररोहरूप महत्तत्वात्मक चतुर्मुख एक ही मूल है जिसका वह; अधः अर्थात् स्वर्ग, भुव, भूलोक आदि में अनन्त देव, गन्धर्व, किन्नर, असुर, राक्षस, प्रेत, भूत, मनुष्य, गाय, अश्वादि पशु, पक्षि, कृमि, कीट, पतङ्ग, स्थावर अनन्त शाखायें हैं जिसका वह अश्वत्थ वृक्ष धर्मादि चारों पुरुषार्थों का साधक होने के कारण अश्वत्थ अर्थात् उत्तम वृक्ष कहा गया है। श्लेष से इसका अन्य अर्थ इस प्रकार है– भक्तिमान् व्यक्तियों के लिए यह संसार श्वः अर्थात् आगामी कल को नहीं रहेगा, अतः यह अश्वत्थ है; अर्थात् यह संसार नष्टप्राय है। किन्तु अभक्तों के लिए यह अव्यय अर्थात्

अनश्वर है। छन्दांसि अर्थात् "भूमिकामी जन वायु देवता के लिए श्वेत सर्सप को स्पर्श करेंगे; प्रजाकामी जन इन्द्र को ग्यारह कपाल (मृदपात्र) प्रदान करेंगे" इत्यादि कर्मप्रतिपादक वेद समूह संसार का वर्धक होने के कारण इसके पत्ते हैं, – 'वृक्ष की शोभा पत्तों से ही होती है;' जो इस वृक्ष को जानते हैं वे वेदज्ञ हैं। कठवल्ली श्रुति में भी कहा गया है– " ऊपर की ओर मूल वाला, नीचे की ओर शाखाओं वाला यह अश्वत्थ (संसार) सनातन है।"]

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्चमूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥१५/२॥

सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों के द्वारा वर्धित उस संसारवृक्ष की विषयरूप पल्लवों वाली शाखायें अधः अर्थात् पश्वादि यानियों में, ऊर्ध्व अर्थात् उच्च देवादि योनियों में फैली हुयी हैं। कर्म का अनुलम्बन करने वाले मूल समूह नीचे की ओर मनुष्यलोक में निरन्तर विस्तृत हो रहे हैं।

[इस श्लोक की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठक्कुर कृत सारार्थवर्षिणी टीका का हिन्दी अनुवाद–

अधः अर्थात् पशु आदि योनियों में, ऊर्ध्व अर्थात् देव आदि योनियों में उस संसार वृक्ष की शाखाएं सत्वादि वृत्तियों के जल से सिञ्चित होकर फैली हुई हैं। शब्दादि विषय समूह उस वृक्ष के पल्लव

स्थानीय हैं। इसके अतिरिक्त, उस वृक्ष के मूल में सभी लोगों से अलक्षित कोई महानिधि है, इस प्रकार अनुमान करते हैं। मूल जटाओं का अवलम्बन करके स्थित उस अश्वत्थवृक्ष की शाखाओं में भी वटवृक्ष की शाखाओं की तरह बाह्य जटायें हैं, इसके लिए कहते हैं– अधश्च इत्यादि। ब्रह्मलोक में इसका मूल होने पर भी ब्रह्मलोक के नीचे मनुष्यलोक में कर्म का अवलम्बन करके मूल समूह निरन्तर विस्तृत हो रहे हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि कर्मफलों के भोग के अन्त में पुनर्वार मनुष्यजन्म में ही कर्मों में प्रवृत्ति होती है।]

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥१५/३॥
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गाता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥१५/४॥

इस मनुष्यलोक में पूर्वोक्त प्रकार से कहे गये इस अश्वत्थ वृक्ष के रूप की उपलब्धि नहीं होती है। इसके आदि, अन्त और आश्रय की भी उपलब्धि नहीं होती है। सुदृढ़ मूल वाले इस अश्वत्थ वृक्ष को असङ्ग अर्थात् सर्वत्र अनासक्तिरूप शस्त्र के द्वारा छेदनकर, उसके बाद में जिस पद को प्राप्तकर सन्तगण

पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त करते हैं उस पद का अन्वेषण करना चाहिए। मैं उस आदि पुरुष की शरण ग्रहण करता हूँ जिनसे यह पुरातन संसार विस्तृत हुआ है।

[इस श्लोक की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठक्कुर कृत सारार्थवर्षिणी टीका का हिन्दी अनुवाद–

इस मनुष्यलोक में पूर्वोक्त वर्णित स्वरूप वाला अश्वत्थ निश्चय ही नहीं पाया जाता है। कहने का भाव यह है कि यह सत्य है, यह मिथ्या है, यह नित्य है इत्यादि वचन से वादिगणों के मत में विविधता पायी जाती है। इसका अवसान न होने के कारण यह अन्त रहित है; अनादि होने के कारण आदि रहित है तथा इसका आश्रय भी नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि– तत्त्वज्ञान के अभाव के कारण इसका आधार क्या है? यह क्या है? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर की उपलब्धि नहीं होती है। जो भी हो, जीवमात्र के दु:ख का निदान संसारवृक्ष का छेदक शस्त्र असङ्ग को जान करके, इसके द्वारा संसारवृक्ष का छेदन करके इसके मूलतल में स्थित महानिधि का अन्वेषण करना चाहिए, इसको ही कहने के लिये कहते हैं– अश्वत्थमिति। यहाँ पर असङ्ग शब्द का अभिप्राय है– अनासक्ति। इस अनासक्ति शस्त्र अर्थात् कुठार के द्वारा संसार वृक्ष का छेदन करके अर्थात् इससे स्वयं को पृथक करके उसके बाद में उसके मूलभूत तत्पद वस्तु जो कि महानिधिरूप ब्रह्म है इसका अन्वेषण करना चाहिये। वह (तत्पद) किस प्रकार का है, इसके लिये कहते हैं– जहाँ जाने पर अथवा जिस पद को प्राप्त करने के बाद में

महात्मागण संसार में पुनः आगमन नहीं करते हैं। अन्वेषण किस प्रकार करना है, इसको कहते हैं– जिनसे इस पुरातन चिरन्तन संसार का विस्तार हुआ है उन आदि पुरुष का भजन करता हूँ, अभिप्राय यह है कि भक्ति के द्वारा अन्वेषण करना कर्त्तव्य है।]

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ १५/५ ॥

आदि पुरुष की भक्ति होने से भक्त किस प्रकार का होकर उस पद को प्राप्त करता है, इसके लिये कहते हैं–

जिसका प्राकृत मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने सांसारिक आसक्तिरूप दोष को जीत लिया है, जो नित्य-अनित्य कर्तव्य विचार परायण होकर परमात्मा सम्बन्धी विचार में तत्पर हैं, जिनकी अन्य कामनाएँ पूर्णरूप से निवृत्त हो गयी हैं, सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त शरणागति के विधि को जानने वाला वह व्यक्ति उस अविनाशी परम पद को प्राप्त होता है।

न तद्भासयते सूर्य्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ १५/६ ॥

वह परमपद किस प्रकार का है, इसके लिए कहते हैं–

जिसको प्राप्त होकर शरणागत व्यक्ति पुनरागमन नहीं

करते, ऐसा मेरा परमधाम है। उसे न सूर्य्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही। अर्थात् मेरा परम धाम स्वयं प्रकाश है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ १५/७

मेरा ही अंश (विभिन्नांश) सनातन जीव इस जीवजगत में प्रकृति में स्थित होकर मन सहित छः इन्द्रियों [मन और श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ] को आकर्षण करता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ १५/९ ॥

यह जीव श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मन को आश्रय करके शब्दादि विषयों का उपभोग करता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढ़ा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १५/१० ॥

देह से निकलते समय, देह में स्थित रहते समय अथवा विषयों का भोग करते समय इन्द्रियादियुक्त जीव को मूढ़ अविवेकी जन नहीं जानते हैं; किन्तु ज्ञानरूप नेत्रों वाले विवेकीजन जानते हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥१५/११

यत्नशील योगीगण शरीर में स्थित इस आत्मा को अनुभव करते हैं, किन्तु यत्न करने पर भी अशुद्धचित्त विवेकज्ञान रहित जन इस जीवात्मा को अनुभव नहीं कर पाते हैं।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामिचौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

॥ १५/१२-१४॥

बद्ध अवस्था में जीव की जो जो प्राप्य वस्तु हैं, उन समस्त वस्तुओं में मैं ही सूर्य, चन्द्र आदि होकर जीव का उपकार करता हूँ; इसी को यदिति इत्यादि तीन श्लोकों के द्वारा कह रहे हैं—

सूर्य्य में स्थित जो तेज समस्त जगत् को प्रकाशित करता है, तथा जो चन्द्रमा में है, और जो अग्नि में है, उस तेज को मेरा ही जानो।

और मैं ही पृथ्वी में अधिष्ठित होकर अपनी शक्ति के द्वारा चराचर समस्त भूतों को धारण करता हूँ। मैं ही रसात्मक अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा होकर समस्त औषधियों अर्थात्

वनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ।

मैं जठरानल होकर प्राणियों के देह का आश्रय करके प्राण और अपान वायु से समायुक्त होकर प्राणियों के द्वारा भोजन किये गये चतुर्विध अन्नों (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य) को पचाता हूँ।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो-
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥१५/१५॥

समस्त प्राणियों के हृदय में सन्निविष्ट बुद्धितत्त्वरूप मैं ही हूँ; इस कारण से मुझसे ही पूर्वानुभूत विषयों की स्मृति, विषयों का ज्ञान और इन दोनों (स्मृति और ज्ञान) का विनाश होता है। [इस प्रकार जीव के बद्धावस्था में अपने उपकारकत्व को कहने के बाद मोक्षावस्था में जीव का जो प्राप्य है, उस उपकार का अब वर्णन कर रहे हैं।]– समस्त वेदों के द्वारा एकमात्र मैं ही जानने योग्य हूँ, तथा मैं ही वेदान्तकर्त्ता और वेदों को जानने वाला हूँ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १५/१६

वेदवित् होने के कारण अब मैं सभी वेदों के निष्कर्ष को

संक्षेप में तीन श्लोकों के द्वारा कह रहा हूँ, अब उसे सुनो–

चौदह भुवनात्मक जड़लोक में क्षर और अक्षर ये दो पुरुष हैं। सभी चराचर भूतों को क्षर अर्थात् स्वरूप से विच्युत होने वाला जीव कहते हैं; तथा स्वरूप से विच्युत न होने वाले कूटस्थ अर्थात् ब्रह्म को अक्षर कहते हैं।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१५/१७॥

ज्ञानियों के उपास्य ब्रह्म को कहने के बाद अब योगियों के उपास्य परमात्मा का वर्णन करता हूँ–

किन्तु पूर्वोक्त जीव और ब्रह्म से भिन्न एक उत्तम पुरुष परमात्मा नाम से कहे जाते हैं, ये परमात्मा ईश्वर और निर्विकार हैं। यही तीनों लोकों में प्रवेश करके उसका धारण व पालन करते हैं।

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१५/१८॥

योगियों के उपास्य परमात्मा का वर्णन करने के बाद अब भक्तों के उपास्य भगवान् का वर्णन करते हुए उसमें भी स्वयं श्रीकृष्ण स्वरूप के सर्वोत्कर्ष को कह रहे हैं–

क्योंकि मैं जीवात्मा से अतीत, ब्रह्म और परमात्मा से भी उत्तम हूँ, अतः लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥१५/१९॥

हे भारत! जो इस प्रकार वादिगण के विविध वादों से मोहित न होकर मुझको ही पुरुषोत्तम जानते हैं, वे ही सर्वज्ञ हैं तथा सब प्रकार से मुझको ही भजते हैं।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥१५/२०

हे निष्पाप भारत! इस प्रकार यह अतिरहस्ययुक्त शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। इसको जानकर मनुष्य बुद्धिमान् (परोक्षज्ञानवान्) होकर कृतार्थ (अपरोक्षज्ञानवान्) हो जाता है।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १६/१८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १६/१९॥

आसुरिक लोग अहङ्कार, बल, दर्प, काम व क्रोध को आश्रय करके परमात्मपरायण साधुओं के देह में स्थित मुझसे द्वेष करते हैं और साधुजनों के गुणों में दोष का आरोप करते हैं।

मैं उन साधुजन विद्वेषी, क्रूर, अशुभकर्म करने वाले नराधमों को संसार में बार-बार आसुरी योनियों में ही डालता रहता हूँ।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ १६/२१
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ १६/२२

काम, क्रोध तथा लोभ ये तीनों आत्मनाशक अर्थात् जीव को अधोगति में ले जाने वाले नरक के द्वार हैं। इसलिये इन तीनों को त्याग देना चाहिये।

हे कुन्तीपुत्र! इन तीन नरक के द्वारों से मुक्त पुरुष अपने कल्याण का आचरण करते हैं; इससे वे श्रेष्ठ गति को प्राप्त करते हैं।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ १६/२३

जो पुरुष शास्त्रविधि का उल्लङ्घन करके मनमाना आचरण करता है, वह न तो सिद्धि अर्थात् न तो भगवान् को प्राप्त होता है, न सुख को और न परमगति को ही।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि॥ १६/२४

इसलिये कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में तुम्हारे लिये शास्त्र ही प्रमाण है। इस कर्त्तव्य विषय में शास्त्रीय विधान में कहे गये कर्म को जानकर उस नियत कर्म्म को करने के योग्य होओ।

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः॥ १७/१॥

अर्जुन ने पूछा

हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्र विधि को त्यागकर लौकिकी श्रद्धा से युक्त होकर यज्ञादि करते हैं, उनकी निष्ठा क्या है? वे सात्विकी हैं अथवा राजसी किम्वा तामसी?

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां स स्वभावजा।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु॥ १७/२

श्रीभगवान् बोले-

देहधारियों की स्वभावजनित अर्थात् प्राचीन संस्कार विशेष से उत्पन्न श्रद्धा सात्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की होती है; इनको सुनो।

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ १७/३

हे भारत! सभी की श्रद्धा उनके सत्व अर्थात् अन्तःकरण के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो जिस वस्तु अर्थात् देवादि में श्रद्धा वाला होता है वह उस देवादि की तरह ही अन्तःकरण वाला होता है।

यजन्ते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ १७/४॥

सात्विक पुरुष देवताओं को पूजते हैं, राजसिक लोग यक्ष और राक्षसों को, तथा अन्य जो तामसिक लोग हैं वे प्रेत और भूतगणों को पूजते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ १७/५॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
माञ्चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥१७/६

जो अविवेकी लोग दम्भ, अहंकार, काम, राग अर्थात् तप में आसक्ति, बल अर्थात् कठोर तपस्या करने की सामर्थ्य से युक्त होकर शस्त्रविधिरहित घोर तपस्या करते हैं, वे लोग शरीर में स्थित पृथिवी आदि भूतसमूह को क्षीण करते हैं। तथा अन्तःशरीर में स्थित मुझे और मेरे अंश जीवात्मा को भी कष्ट देते हैं। ऐसे लोगों को असुरों की निष्ठा में स्थित जानो।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह॥ १७/२८॥

हे पार्थ! अश्रद्धा पूर्वक किया हुआ हवन, अश्रद्धा पूर्वक दिया हुआ दान, अश्रद्धा पूर्वक तप्त हुआ तप और अश्रद्धा पूर्वक जो कुछ भी किया हुआ कर्म है, वह समस्त असत् है, इस प्रकार

कहा जाता है। इसलिए वह न तो इस लोक में फल देते हैं, न परलोक में।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ १८/४२॥

शम (अन्त:करण का संयम), दम (बाह्येन्द्रियों का निग्रह), तप अर्थात् शास्त्र सम्मत शारीरिक कष्ट सहना, बाहर भीतर से शुद्धि, सहिष्णुता, सरलता अर्थात् कुटिलता रहित होना, ज्ञान अर्थात् शास्त्रों से श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ तत्व का बोध, विज्ञान अर्थात् उसी ज्ञान से एकान्त धर्म का अधिगम, तथा आस्तिक्य अर्थात् शास्त्र के अर्थों में दृढ़ विश्वास, ये सभी ब्राह्मणों के स्वभावजनित कर्म हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्॥ १८/४३

शूरवीरता, तेज, धैर्य्य, चतुरता व युद्ध में न भागना, दान देना और लोकनियन्त्रण करने का भाव, ये सभी क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं।

कृषिगोरक्षावाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्य्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ १८/४४॥

कृषि, गोपालन और क्रय-विक्रय, ये वैश्य के स्वाभाविक

कर्म हैं। तथा द्विजों की सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्म निरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ १८/४५

अपने अपने कर्मों में तत्परता से लगा हुआ मनुष्य सिद्धि (ज्ञाननिष्ठा) को प्राप्त होता है। अपने अधिकार में आने वाले कर्म में निरत व्यक्ति जिस प्रकार सिद्धि को प्राप्त करता है, उसको सुनो।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥१८/४६
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभाव नियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥१८/४७
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ १८/४८॥

जिनसे जीवों की जन्मादि लक्षणा प्रवृत्ति होती है, जिनसे यह समग्र जगत् व्याप्त है, मानव स्वविहित कर्मों के द्वारा उन परमेश्वर की अर्चना करके सिद्धि (ज्ञाननिष्ठा) को प्राप्त करता है।

उत्तमरूप से अनुष्ठित दूसरे के धर्म से निकृष्टरूप से अनुष्ठित अपना धर्म ही श्रेयस्कर है। क्योंकि स्वभाव से नियत कर्म को करते हुए मानव दोष को प्राप्त नहीं होता है।

हे कुन्तीपुत्र! दोषयुक्त होने पर भी स्वाभाविक कर्मों को नहीं त्यागना चाहिए, क्योंकि सभी कर्म किसी न किसी दोष के द्वारा उसी प्रकार आवृत्त होते हैं, जिस प्रकार अग्नि धुएं के द्वारा आवृत्त होती है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्यासेनाधिगच्छति॥ १८/४९॥

सर्वत्र प्राकृत वस्तुओं में आसक्तिशून्य बुद्धि वाला, वशीकृत चित्त वाला, और ब्रह्मलोक पर्यन्त जो सुखसमूह हैं उन सबमें स्पृहा जिसकी नष्ट हो गयी है वह स्वरूपतः कर्मों के त्याग के द्वारा श्रेष्ठ नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त करता है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ १८/५०॥

हे कौन्तेय! नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त व्यक्ति जिस प्रकार से ब्रह्म को अनुभव करता है तथा जो ज्ञान की परा निष्ठा अर्थात् श्रेष्ठ गति है, उसको मुझसे संक्षेप में श्रवण करो।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
॥ १८/५१-५३ ॥

विशुद्ध बुद्धि से युक्त होकर धृति के द्वारा मन को नियमित करने वाला, शब्दादि विषयों का त्याग पूर्वक रागद्वेष को दूर से परित्याग करनेवाला, एकान्त निर्जन स्थान का सेवन करने वाला, अल्पाहारी, वाणी-काय-मन को ध्येय में लगाने वाला, हरिचिन्तनरूप ध्यानयोग परायण, आत्मतत्व से भिन्न विषयों में नित्य वैराग्य का आश्रय करके अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह को त्याग करके ममताहीन परमशान्तव्यक्ति ब्रह्मानुभव में समर्थ होता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ १८/५४

अनावृत चैतन्यरूप होने से ब्रह्मरूप प्रसन्नात्मा व्यक्ति नष्ट हुए वस्तु के लिए न तो शोक करता है, न अप्राप्त वस्तु के लिये आकाङ्क्षा। वह सभी भूतों में समदर्शी (सर्वत्र भगवद्दर्शन करने वाला) होकर मेरी परा अर्थात् प्रेमलक्षणा भक्ति लाभ करता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ १८/५५

उस पराभक्ति के द्वारा वह मुझको स्वरूपतः गुणतः जैसा

हूँ, ठीक वैसा का वैसा अनुभव कर लेता है। उस पराभक्ति से मुझको तत्त्वतः जानकर वह मुझमें प्रवेश करता है अर्थात् मेरे भक्तिरस के माधुर्य्य में अवगाहन करता है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ १८/५७

समस्त कर्मों को मन से मुझमें अर्पण करके तथा मेरे परायण होकर व्यवसायात्मिका बुद्धियोग का आश्रय करके निरन्तर मुझमें चित्तवाला होओ अर्थात् सदा मेरा स्मरण करो।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत् प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
॥ १८/६२॥

हे भारत! सब प्रकार से उन परमेश्वर के ही शरण में जाओ। उनकी कृपा से परम शान्ति को तथा भगवान् के परम धाम को प्राप्त करोगे।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥१८/६३

इस प्रकार गोपनीय से भी अति गोपनीय अति रहस्यमय ज्ञान मेरे द्वारा तुमको कहा गया। अब इस अति रहस्य युक्त ज्ञान को पूर्णतया भलीभाँति विचारकर जैसा इच्छा हो वैसा करो।

अब सर्वाधिक रहस्यमय विषय को अर्जुन के हित के लिये (अर्जुन के माध्यम से अन्य समस्त भक्तों के लिये भी) निम्न दो श्लोकों में कह रहे हैं–

सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥१८/६४
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ १८/६५॥

सर्वाधिक अत्यन्त गोपनीय मेरे परम वचन को पुनः सुनो। तुम मेरे अतिशय प्रिय हो, इसलिये तुम्हारे हित के लिये इसको तुमसे पुनः कहता हूँ।

मुझमें मन वाला होओ अर्थात् मेरा भक्त होकर मेरा चिन्तन करो, मेरा भक्त बनो, मेरी पूजा करो, मुझको नमस्कार करो; इससे तुम मुझे ही प्राप्त करोगे। मैं तुमसे यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥१८/६६

समस्त धर्मों को परित्याग करके एकमात्र मेरी शरण ग्रहण करो। मैं तुमको भूत, वर्तमान और भविष्य के सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, अतएव शोक मत करो।

भक्त्या त्वनन्यया शक्यो अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप॥ ११/५४॥

परन्तु हे परन्तप! हे अर्जुन! अनन्या भक्ति के द्वारा ही इस प्रकार रूप वाला मैं तत्व से जानने, देखने और प्रवेश करने में (ब्रह्मस्वरूप में) समर्थ हुआ जाता हूँ।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥११/५५

हे पाण्डव! जो पुरुष केवल मेरे लिए ही कर्म करने वाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, मद्विमुख संसर्ग रहित है, और समस्त प्राणियों में वैरभाव रहित है, वह मुझको प्राप्त करता है।

यद्यद्विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ १०/४१॥

जो जो विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त, सम्पत्तियुक्त तथा बलप्रभावादि से अधिक वस्तुयें हैं, तुम उन सबको मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न जानो।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ १०/८॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ १०/९॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०/१०॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ १०/११

मैं समस्त वस्तुओं (प्राकृत-अप्राकृत सभी वस्तु) के उत्पत्ति का कारण हूँ। मुझसे ही सभी लोग विविध प्रकार के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार निश्चय करके बुद्धिमान जन भावयुक्त होकर अर्थात् ममत्व पूर्वक मेरा भजन करते हैं।

जिनका मन मेरे नाम गुण लीला सेवा आदि में लुब्ध है तथा जो मेरे बिना अपने प्राणों को धारण करने में असमर्थ हैं, वे सदैव परस्पर मेरे विषय में ज्ञान प्रदान करते हुए एवं मेरे कार्यावलियों गुणों आदि का कीर्त्तन करते हुए सन्तोष और आनन्द को प्राप्त करते हैं।

नित्य-निरन्तर मेरे संयोग की आकाङ्क्षा करने वालों तथा प्रीतिपूर्वक भजन करने वालों को मैं वह बुद्धियोग (ममत्व) प्रदान करता हूँ जिसके द्वारा वे मुझको (मेरे नित्य संयोग को) प्राप्त करते हैं।

उन लोगों (भक्तों) के ऊपर ही अनुग्रह करने के लिए उनके अन्त:करण में स्थित मैं स्वयं ही उनके अज्ञान जनित अन्धकार को देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपक के द्वारा नष्ट कर देता हूँ।*

*** श्रीमद्गीता सर्वसारभूता भूतापतापहृत्।**
चतु:श्लोकीयमाख्याता ख्याता सर्वनिशर्मकृत्॥

पूर्वोक्त ये चार श्लोक सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता के साररूप

में प्रसिद्ध हैं। ये समस्त भूतों के तापसमूह का हरण करने वाले तथा सबका हर प्रकार से मङ्गल करने वाले हैं।(श्रीसारार्थवर्षिणी टीका)

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ २/४१

हे कुरुनन्दन! भक्तिमार्ग में व्यवसायात्मिका अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि केवल एक (एकनिष्ठ) होती है। किन्तु अव्यवसायी अन्य लोगों की बुद्धि अनन्त और बहुशाखा युक्त होती है।

[इस श्लोक के 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन' अंश की श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठक्कुर कृत सारार्थवर्षिणी टीका का हिन्दी अनुवाद–

अन्य सभी प्रकार की बुद्धियों की अपेक्षा भक्तियोग विषयिणी बुद्धि उत्कृष्ट होती है। इसी को व्यवसायात्मिका इत्यादि श्लोक के द्वारा कहे हैं। इस भक्तियोग में व्यवसायात्मिका बुद्धि एक होती है। मेरे श्रीगुरु द्वारा उपदिष्ट भगवान् का कीर्त्तन, स्मरण, चरण परिचर्य्यादि ही मेरा साधन है, यही मेरा साध्य है और यही मेरा जीवन है। मैं साधन और साध्य दोनों ही दशाओं में इसे त्याग करने में असमर्थ हूँ। यही मेरी कामना है, यही मेरा कार्य है। इसको छोड़कर स्वप्न में भी मेरा अन्य कुछ कार्य एवं अन्य अभिलाषा नहीं है। इससे सुख हो या दुःख, संसार बन्धन का नाश हो अथवा

न हो; उससे मेरी कोई हानि नहीं है। इस प्रकार की निश्चयात्मिका बुद्धि निष्कपट (उत्तम, शुद्ध) भक्ति में ही सम्भव होती है।]

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ २/४०॥

श्रवणकीर्त्तनादिभक्तिरूप योग में भक्ति का आरम्भमात्र करने से भी इसका नाश नहीं होता है, और इसमें कोई प्रत्यवाय भी नहीं होता है। इस धर्म के आरम्भ समय में थोड़ा सा ही सही जो धर्म का पालन होता है वह महान भय अर्थात् संसार बन्धन से मुक्त करता है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ९/७॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ९/८॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ ९/९॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ ९/१०॥

हे कौन्तेय! कल्पों के अन्त में अर्थात् प्रलयकाल में भूतसमूह मेरी त्रिगुणात्मिका माया शक्ति में लीन होते हैं, और कल्पों के आदि में उनकी मैं फिर सृष्टि करता हूँ।

अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृति को अधिष्ठान करके निज स्वभाव से कर्मादि के परतन्त्र हुए सम्पूर्ण भूत समुदाय की उनके कर्मों के अनुसार पुनः पुनः सृष्टि करता हूँ।

हे धनञ्जय! उन सृष्टि, स्थिति और लय कर्मों में आसक्ति रहित और उदासीन के सदृश स्थित मुझे वे सृष्ट्यादि कर्म नहीं बाँधते हैं।

हे कौन्तेय! मेरी अध्यक्षता में त्रिगुणात्मिका प्रकृति चराचर सहित सर्व जगत् को प्रसव करती है, और इसी हेतु से ही यह जगत् बार-बार उत्पन्न होता है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ९/११॥

मेरे मानुषी तनु के आश्रित परमभाव को न जान करके अविवेकी लोग सभी भूतों के महेश्वर मुझ कृष्ण का अनादर करते हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ ९/१३

हे पार्थ! किन्तु दैवी स्वभाव को प्राप्त महात्माजन मुझ मनुष्याकार कृष्ण को सब भूतों का आदि कारण और सच्चिदानन्दविग्रहवाला होने के कारण अनश्वर जानकर अनन्य मन से भजन करते हैं।

सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ ९/१४

वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम गुण लीला आदि का कीर्त्तन करते हुए, मेरी भक्ति की प्राप्ति के लिए साधुसङ्गादिरूप यत्न और भक्तिपूर्वक प्रणामादि करते हुए सदा मेरे साथ संयोग के आकाङ्क्षी होकर मेरी उपासना करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ ९/१५॥

अन्य कोई कोई लोग (गीतोक्त महात्मा अनन्यभक्त और आर्त्त-अर्थार्थी-जिज्ञासु-ज्ञानीभक्त भिन्न लोग) अहंग्रहोपासना, प्रतीकोपासना और बहुत प्रकार से विश्वरूपोपासना, इन तीन प्रकार के ज्ञानयज्ञ के द्वारा यजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं।

बहुत प्रकार से जो उपासना है, उसका कारण क्या है? इसके लिये भगवान् अपने विश्वरूपत्व का वर्णन इस प्रकार किये हैं—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ ९/१६॥
पितामहस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्सामयजुरेव च॥ ९/१७॥
गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ ९/१८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ ९/१९॥

मैं अग्निष्टोमादि एवं वैश्वदेवादि यज्ञ हूँ। मैं स्वधा हूँ, मैं औषधि हूँ, मैं मन्त्र हूँ, मैं घृत हूँ, मैं अग्नि हूँ और मैं ही हवन हूँ।

मैं इस जगत् का पिता, माता, धाता, पितामह, जानने योग्य पवित्र ओङ्कार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी हूँ।

गति, भरण-पोषण करने वाला, स्वामी, शुभाशुभ कर्मों का द्रष्टा, सबका आश्रय, विपत्तियों को दूर करने वाला, निरुपाधिक हितकारी, उत्पत्ति प्रलय एवं स्थिति, पद्मशंखादि निधि और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ।

हे अर्जुन! मैं ही सूर्य रूप से ग्रीष्म काल में तपता हूँ, वर्षाकाल में मेघरूप में जल की वर्षा करता हूँ, कभी तो वृष्टि के प्रतिबन्धक रूप में वर्षा का आकर्षण करता हूँ। मैं ही अमृत (मोक्ष) और मृत्यु (संसार) हूँ, और सत्-असत् (स्थूल-सूक्ष्म) भी मैं ही हूँ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ ९/२२॥

जो अनन्य भक्तजन मेरा निरन्तर चिन्तन करते हुए मुझको भजते हैं, उन नित्य मेरा चिन्तन करने वाले पुरुषों का योग (मेरी प्राप्ति स्वरूप) और क्षेम (मुझसे अपुनरावृत्ति अर्थात् भ्रष्ट न होना) मैं स्वयं वहन करता हूँ।

येऽप्यन्य देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ ९/२३॥

हे कौन्तेय! अन्य देवताओं के जो भक्त श्रद्धायुक्त होकर उपासना करते हैं, वे भी अविधि पूर्वक अर्थात् मेरी प्राप्ति कराने वाली विधि से रहित होकर मेरी ही उपासना करते हैं।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ ९/२४॥

क्योंकि समस्त यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ, परन्तु वे मुझे तत्व से नहीं जानते हैं, इसी कारण से वे पतित होते हैं अर्थात् इस संसार में पुनर्जन्म को प्राप्त होते रहते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥९/२५

देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं, और मेरा पूजन करने वाले भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ ९/२६॥

जो भक्ति पूर्वक मेरे लिये पत्र, पुष्प, फल, जल आदि

वस्तुओं को प्रदान करता है, मैं उस शुद्ध अन्तःकरण वाले भक्त के द्वारा भक्ति पूर्वक प्रदत्त वस्तुओं को ग्रहण करता हूँ।

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ ९/२७॥

हे कौन्तेय! तुम जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ भोजन करते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो कुछ दान देते हो, और जो भी तप करते हो; वह सब मुझको अर्पण करो।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म्मबन्धनैः।
सन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ ९/२८॥

इस प्रकार करने से शुभ और अशुभ फलजन्य कर्म रूप बन्धन से मुक्त हो जाओगे। तथा कर्मफलत्याग रूप योग से युक्त होकर मुक्तजनों में भी विशिष्ट होकर के मेरी सेवा हेतु मेरे सामीप्य को प्राप्त करोगे।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥९/२९

मैं समस्त भूतों में समभाव वाला हूँ। न मेरा कोई अप्रिय है, और न ही प्रिय। परन्तु जो मुझको भक्ति पूर्वक भजते हैं, वे मुझमें जिस प्रकार आसक्त रहते हैं मैं भी उनमें उसी प्रकार आसक्त रहता हूँ।

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ९/३०

यदि अतिशय दुराचारी व्यक्ति भी अनन्य भाव से मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह मेरी ऐकान्तिकी भक्ति में निश्चित मति वाला है।

यहाँ पर सुदुराचार और अनन्य भजन परस्पर विरुद्ध हैं। मानव का शरीर पाञ्चभौतिक और नश्वर है। मन भी अन्नमय है।

परधन, परदार, द्वेष, मात्सर्य, हिंसा, कपट, अनृत, चोरी और दूसरे का दोष कीर्त्तन करना सुदुराचार है। यह स्वार्थी, झगड़ालू व लालची है, सुतरां दुराचारत्व व अनन्य भजन एक साथ असम्भव है। अतएव असम्भव को सम्भव दिखाते हुए कहते हैं– अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् इत्यादि।

वस्तुतः परमेश्वर के अनन्त शक्तियों के मध्य में बहिरङ्गा और अन्तरङ्गा शक्ति प्रधान है। बहिरङ्गा शक्ति के द्वारा परमेश्वर एकपाद विभूति का निर्माण करते हैं, और अन्तरङ्गा शक्ति के द्वारा त्रिपादविभूति का।

बहिरङ्गा शक्ति सत्त्व-रजः-तमात्मिका है, और परस्पर मिलित है। अन्तरङ्गा शक्ति ह्लादिनी, सम्वित् और सन्धिनी है। ये परस्पर मिलित नहीं हैं। प्रत्येक ही पूर्ण एवं स्वतन्त्र है। ह्लादिनी सम्वित् का सारभूता भक्ति है।

परमेश्वर की शक्ति भक्ति शास्त्रीय है। भक्ति शब्द का अर्थ भजन, सेवा, परिचर्य्या आदि है।

भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रौपाधि नैरस्येन अमुस्मिन् मनः कल्पनम् एतदेव नैष्कर्म्यम्।

भगवान् के भजन का नाम भक्ति है। इस जगत और पर जगत के वस्तु लाभ की आशा को छोड़कर श्रीभगवान् की परिचर्या में मनोनिवेश करना ही भक्ति है।

शास्त्र शब्द का अर्थ अनुशासन और हितोपदेश है।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूत हिते रताः॥ १२/४॥

इन्द्रिय समूह को वश में करके सर्वत्र भगवद् बुद्धि रखकर समस्त भूतों के हित में रत रहने से वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ १६/२३॥

जो व्यक्ति शास्त्रविधि का उल्लङ्घन करके अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है, वह न तो सिद्धि अर्थात् न तो भगवान् को प्राप्त होता है, न सुख को और न परमगति को ही।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि॥ १६/२४॥

इसलिये कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में तुम्हारे लिये शास्त्र ही प्रमाण है। इस कर्त्तव्य विषय में शास्त्रीय विधान

में कहे गये कर्म को जानकर उस नियत कर्म्म को करने के योग्य होओ।

न ह्येतदद्भुता व्याध तवाहिंसादयो गुणाः।
हरिभक्तौ प्रवृत्ता ये न ते स्युः परतापिनः॥

हे व्याध! तुम्हारे में अहिंसा आदि गुणों का होना आश्चर्यजनक नहीं है, कारण— जो लोक हरिभक्ति में प्रवृत्त होते हैं, वे परपीड़क नहीं होते हैं।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना,
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा,
मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥
(श्री.भा. ५-१८-१२)

भगवान् में जिसकी अकिञ्चना भक्ति है, उसमें समस्त सद्गुणों के साथ देवतागण निवास करते हैं; किन्तु जो श्रीहरि का भक्त नहीं है, उसमें महद्गुण समूह भला कैसे रह सकते हैं? वह तो मनोरथ से तरह-तरह के सङ्कल्प करके निरन्तर तुच्छ बाहरी विषयों की ओर ही दौड़ता रहता है।

श्रीलप्रबोधानन्द सरस्वती विरचित श्रीवृन्दावन-महिमामृतम् ग्रन्थ के सप्तदश शतक में वर्णित है—

परधन-परदार-द्वेष-मात्सर्य-हिंसा
अनृत-कपट-चौर्य-पराभिध्यायान्।
त्यजति इह भक्त राधिकाप्राणनाथे
न खलु भवति तस्या बन्ध्या वृन्दावनेशा॥

वृन्दावन में वास करता हुआ जो भक्त परधन, परदार, द्वेष, मात्सर्य, हिंसा, कपट, झूठ, चोरी व दूसरे की बुराई करना छोड़ देता है उसके लिये वृन्दावन वास सफल होता है, अर्थात् वृन्दावन में निवास करना होता है। उसका श्रीकृष्ण दर्शन सम्पन्न होता है।

मानव एक सामाजिक प्राणी है। इसका सृजन परमेश्वर ने किया है। अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए मानव समाज का गठन करता है। समाज की प्रथा होती है, उसी के द्वारा यह समाज चलता रहता है। मानव समाज का ध्येय है– अर्थ और काम। अर्थ से समस्त व्यवहार निष्पन्न होता है और काम से मानव शरीर उत्पन्न होता है, मनोरञ्जन भी होता है।

श्रद्धा शब्द का अर्थ है– निश्चय। यह निश्चय दर्शन, श्रवण और अनुभव से होता है। अर्थ काम के प्रति श्रद्धा इसी रीति से होती है, इसको लौकिकी श्रद्धा कहते हैं। अदृष्ट परमेश्वर, भक्ति आदि की श्रद्धा जब इस रीति से होती है तब इस श्रद्धा को भी लौकिकी श्रद्धा कहते हैं।

वस्तु दो प्रकार के हैं– लौकिक और पारलौकिक। लौकिक वस्तुओं के प्रति श्रद्धा व्यवहार से होती है। पारलौकिक वस्तुओं के प्रति श्रद्धा शब्द शास्त्र के अनुसार होती है। भक्ति, परमेश्वर आदि पदार्थ शब्दशास्त्र वर्णित हैं।

लौकिक पदार्थों के लिए लौकिकी श्रद्धा ही यथेष्ठ हैं, किन्तु पारमार्थिक पदार्थों के प्रति लौकिकी श्रद्धा से प्रवृत्त होने

पर भी शास्त्रीय श्रद्धा की परम आवश्यकता है।

लौकिकी श्रद्धा दोष दुष्ट है, शास्त्रीय श्रद्धा निर्दोष है। लौकिकी श्रद्धा के बाद शास्त्रीय श्रद्धा होना भक्ति मार्ग में अति आवश्यक है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ १६/२१॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ १६/२२॥

काम, क्रोध तथा लोभ ये आत्मनाशक अर्थात् जीव को अधोगति में ले जाने वाले नरक के तीन प्रकार के द्वार हैं। इसलिये इन तीनों को त्याग देना चाहिये।

हे कुन्तीपुत्र! इन तीन नरक के द्वारों से मुक्त पुरुष अपने कल्याण का आचरण करते हैं; इससे वे श्रेष्ठ गति को प्राप्त करते हैं, अर्थात् मुझको प्राप्त करते हैं।

श्रद्धा के विषय में श्रीमद्भगवद्गीता का संवाद इस प्रकार है—

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः॥ १७/१

अर्जुन ने पूछा

हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्र विधि को त्यागकर लौकिकी श्रद्धा से युक्त होकर यज्ञादि करते हैं, उनकी निष्ठा क्या है? ये

सात्विकी हैं अथवा राजसी, किम्वा तामसी ?

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां स स्वभावजा।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु॥ १७/२॥

श्रीभगवान् बोले–

देहधारियों की स्वभावजनित अर्थात् प्राचीन संस्कार विशेष से उत्पन्न श्रद्धा सात्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की होती है; इनको सुनो।

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ १७/३॥

हे भारत! सभी की श्रद्धा उनके सत्व अर्थात् अन्तःकरण के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो जिस वस्तु अर्थात् देवादि में श्रद्धा वाला होता है वह उस देवादि की तरह ही अन्तःकरण वाला होता है।

सबका सार यह है कि– लौकिकी श्रद्धा सम्पन्न मनुष्य यदि श्रीगुरु और भगवान् की अहैतुकी कृपा से शास्त्रीय श्रद्धा को प्राप्त करता है तो उसी को साधु मानना होगा। उसी की बुद्धि स्थिर है।

**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ९/३१॥**

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है, और सदा वर्तमान रहने

वाली परमशान्ति को प्राप्त होता है। हे कुन्ती पुत्र! तुम प्रतिज्ञा कर लो कि मेरा भक्त कभी भी नष्ट नहीं होता है।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ ९/३३ ॥

फिर इसमें कहना ही क्या है कि पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षिगण मेरा भक्त होकर के परम गति को प्राप्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि ये सभी भक्त निःसन्देह मुझ परम गति को प्राप्त होते हैं। इसलिए हे अर्जुन! नश्वर और दुःखपूर्ण इस लोक को प्राप्त करके मेरा भजन करो।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ९/३४॥

मुझमें मन वाला होओ अर्थात् मेरा भक्त होकर मेरा चिन्तन करो, मेरा भक्त बनो, मेरी पूजा करो, मुझको नमस्कार करो। इस प्रकार मन और देह को मेरी सेवा में नियुक्त कर मेरे परायण होकर तुम मुझे ही प्राप्त होओगे।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ७/४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् । ७/५॥

मेरी जड़ा प्रकृति पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार इन आठ प्रकार के भेदों वाली है।

हे महाबाहो! किन्तु इस अपरा (जड़ा) प्रकृति से श्रेष्ठ मेरी एक अन्य जीवस्वरूपा प्रकृति है जिससे यह जगत् धारण किया जाता है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ७/६ ॥

ऐसा समझो कि ये दोनों परा और अपरा प्रकृति समस्त स्थावर-जङ्गम भूतों को उत्पन्न करने वाली हैं; तथा मैं सम्पूर्ण जगत् के उत्पत्ति और विनाश का मूल कारण हूँ।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७/७॥

हे धनञ्जय! मुझसे श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र में मणियों के समान मुझमें पिरोया हुआ है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ ७/१४॥

जड़ विषयानन्द के द्वारा जीवों को मोहित करने वाली मेरी यह त्रिगुणात्मिका माया दुरतिक्रम्य है। परन्तु जो लोग एकमात्र मेरी शरण ग्रहण करते हैं वे लोग इस माया को पार कर जाते हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ ७/१५ ॥

दूषित कर्म करने वाले मूढ[१], नराधम[२], माययापहृतज्ञाना[३] अर्थात् माया के द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया है, तथा आसुरिक भाव वाले[४]– ये सभी मेरी शरण ग्रहण नहीं करते हैं।

[१] भगवद्वार्त्ता को छोड़कर असत्वार्ता में लगने वाले लोगों को मूढ़ कहते हैं।

[२] कुछ काल तक भक्ति करने के बाद यह सोचकर भक्ति का परित्याग कर देना कि फलप्राप्ति में साधन भक्ति का उपयोग नहीं है, ऐसी सोच वाले नराधम हैं।

[३] शास्त्रादि का अध्यापनादि होने के बाद भी जो लोग यह सोचते हैं कि वैकुण्ठ में विराजित श्रीनारायण में ही केवल सार्वकालिक भक्ति प्राप्य है, रामकृष्ण में नहीं क्योंकि वे मानुषी हैं, ऐसी सोच वालों को माययापहृतज्ञाना कहते हैं अर्थात् माया के द्वारा इनका ज्ञान हर लिया गया है।

[४] जरासन्धादि असुरगण जिस प्रकार मेरे श्रीविग्रह को लक्ष्य करके विद्ध करते हैं उसी प्रकार जो लोग श्रीवैकुण्ठ में विराजित व मूर्त्तरूप में दृश्य मेरे विग्रह का कुतर्क के द्वारा खण्डन करते हैं और मेरे शरण में नहीं आते हैं वे लोग आसुरिक भाव वाले हैं।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्ल्लभः॥ ७/१९॥

'वासुदेव ही सब कुछ हैं', इस प्रकार का अनुभव रखने वाले ज्ञानी भक्त बहुत जन्मों के अन्त के जन्म में मेरे शुद्ध भक्त के संग से मेरी शरण ग्रहण करते हैं, इस प्रकार के महात्मा अत्यन्त दुर्ल्लभ हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः॥ ७/२८॥

पुण्यकर्म करने वाले जिन लोगों के पाप समूह प्रायः नष्ट हो गये हैं, वे लोग यदृच्छा से प्राप्त साधुसंग से राग-द्वेष व सुख-दुःख रूप द्वन्द मोह से मुक्त होकर दृढ़निश्चय पूर्वक मुझको भजते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ ७/२९॥

जो लोग वृद्धावस्था और मृत्यु से मुक्ति के लिए मुझको आश्रय करके यत्न करते हैं वे लोग मेरे भक्ति के प्रभाव से प्रसिद्ध ब्रह्म को, जीवात्मा को, तथा निखिल कर्मों (जीवात्मा के नानाविध कर्म जन्य संसार बन्धन) को जानते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च मे विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ७/३०॥

जो लोग सत्सङ्ग के प्रभाव से मुझे अधिभूत, अधिदैव, और अधियज्ञ सहित जानते हैं, मुझमें आसक्तचित्त वाले वे लोग प्रयाणकाल में भी मुझे अधिभूतादि सहित जानते हैं अर्थात् शरीर त्याग के समय में भी मुझे स्मरण करते हैं।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ८/५॥

जो पुरुष अन्तकाल में मुझको स्मरण करते हुए शरीर को त्याग कर गमन करता है, वह मेरे स्वभाव को प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ८/६॥

हे कुन्तीपुत्र! जो अन्तकाल में जिस-जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है, वह उस-उस भाव को ही प्राप्त होता है, क्योंकि वह सदा उसी भाव से भावित रहता है।

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ ८/७॥

इसलिए सभी कालों में निरन्तर मेरा स्मरण करो और युद्ध भी करो। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए संकल्पात्मक मन और व्यवसायात्मिका बुद्धि से युक्त होकर तुम निःसन्देह मुझे

ही प्राप्त होओगे।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८/८॥

हे पार्थ! मेरे पुनः पुनः स्मरणरूप अभ्यासयोग से युक्त अन्य विषयों में न जाने वाले चित्त से सतत चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम दिव्य पुरुष को अर्थात् मुझको प्राप्त होता है।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम्॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ ८/१२-१३

नेत्रादि समस्त इन्द्रियों के द्वारों को बाह्य विषयों से खींचकर, मनको हृदय में ही निरोधकर अर्थात् अन्य विषयों के संकल्प को त्यागकर, फिर भ्रूमध्य में प्राण को स्थापित करके मुझ विषयक योगधारणा में स्थित होकर अर्थात् मेरी मूर्ति की भावना का आश्रयकर जो पुरुष ॐ इस एक अक्षररूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ उसके वाच्य स्वरूप मुझको चिन्तन करता हुआ शरीर को त्यागकर प्रस्थान करता है, वह पुरुष परमगति अर्थात् मेरे सालोक्य को प्राप्त होता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ ८/१४॥

हे पार्थ! जो अनन्य चित्त होकर अर्थात् भक्तिभिन्न अन्य अभिलाषिता शून्य होकर सतत प्रतिदिन मुझको स्मरण करता है, मेरे संयोग के नित्य आकांक्षी उस भक्तियोगवान् के लिए मैं सुखपूर्वक लभ्य हूँ।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ ८/१५॥

मुझको प्राप्त करके महात्मागण दुःखों के घर एवं अनित्य पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते हैं, कारण— वे परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, अर्थात् वे मेरे नित्य लीला में परिकर हुये हैं।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ ८/१६॥

हे अर्जुन! ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावर्त्ती हैं। परन्तु हे कुन्तीपुत्र! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता है।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ ८/२८॥

मेरे द्वारा कहे गये इन तत्त्वों (सप्तम और अष्टम अध्याय में वर्णित मेरे और मेरे भक्त के माहात्म्य) को जानकर मद्भक्तिमान्

योगी व्यक्ति वेदों में, यज्ञों में, तपस्याओं में, दान आदि में जो कुछ भी पुण्यफल कहे गये हैं उन सबका अतिक्रमण करके मेरे परम धाम को प्राप्त होता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ ६/१६॥

हे अर्जुन! यह योग न तो अधिक भोजन करने वाले का, न ही बिलकुल न खाने वाले का, न बहुत शयन करने वाले का और न ही अत्यधिक जागने वाले का सिद्ध होता है। अभिप्राय यह है कि इन लोगों का योग सिद्ध नहीं होता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ ६/१७॥

नियत अर्थात् यथायोग्य आहार-विहार करनेवाले का, कर्मों अर्थात् वाग्व्यापारादि व्यावहारिक-पारमार्थिक कृत्यों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य सोने तथा जागने वाले का योग समस्त दुःखों का नाश करने वाला होता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ ६/२९॥

योगयुक्तात्मा अर्थात् ब्रह्माकार अन्तःकरण वाले सर्वत्र समदर्शी पुरुष सभी भूतों में परमात्मा को और सभी भूतों को परमात्मा में स्थित देखते हैं।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ६/३०

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में मुझको देखता है और मुझमें सम्पूर्ण भूतों को देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता हूँ, और वह मेरा उपासक योगी भी मेरे लिए अदृश्य नहीं होता है अर्थात् कभी भी भ्रष्ट नहीं होता है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ६/३१॥

जो पुरुष एकत्व में स्थित होकर सम्पूर्ण भूतों में स्थित मुझको भजता है, वह योगी सब प्रकार से व्यवहार करता हुआ भी सब प्रकार से मुझमें ही अवस्थान करता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ६/३२॥

हे अर्जुन! जो सभी में अपने समान ही सुख और दुःख को समान देखता है, वह योगी श्रेष्ठ है, ऐसा मेरा अभिमत है।

सन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ५/६॥

परन्तु, हे महाबाहो (अर्जुन)! निष्काम कर्मयोग के बिना सन्यास दुःखदायी होता है। इसलिये निष्काम कर्मयोगी ज्ञानी होकर शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त करता है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥५/१९

जिनका मन समभाव में स्थित है, उनके द्वारा इस लोक में ही संसार को जीत लिया गया है; क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, इससे वे ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ ५/२५॥

जिनके समस्त पाप नष्ट हो गये हैं, जिनके समस्त संशय नष्ट हो गये हैं, जो सभी प्राणियों के हित में रत हैं और जो संयत मन वाले हैं, वे तत्त्वद्रष्टागण ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होते हैं।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ ४/३९

श्रद्धावान् और निष्कामकर्म के अनुष्ठान में निष्ठाशील व्यक्ति जब जितेंद्रिय होता है तब वह ज्ञान को प्राप्त करता है। तथा ज्ञान को प्राप्त करके वह शीघ्र ही पराशान्ति को प्राप्त होता है, अर्थात् उसका भवबन्धन नष्ट हो जाता है।

श्रीगुर्व्वाष्टकम्

(श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठक्कुर विरचित
श्रीस्तवामृतलहरी से उद्धृत)

भक्तों के लिए नित्य पठनीय एवं मननीय

श्रीगुरुदेवस्तुति

संसारदावानललीढलोक,
त्राणाय कारुण्यघनाघनत्वम्।
प्राप्तस्य कल्याणगुणार्णवस्य,
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥ १॥

संसाररूप दावानल से सन्तप्त लोक की रक्षा करने के लिए, दया के भाव से वर्षा करने वाले मेघ के भाव को प्राप्त होने वाले एवं कल्याणगुण के सागर स्वरूप श्रीगुरुदेव के श्रीचरणारविन्द की मैं वन्दना करता हूँ॥ १॥

महाप्रभोः कीर्त्तननृत्यगीत,
वादित्रमाद्यन्मनसो रसेन।
रोमाञ्चकम्पाश्रुतरङ्गभाजो,
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥ २॥

महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव के कीर्त्तन, नृत्य, गीत एवं वाद्य से प्रेमोन्मत्त मानसरस से उत्पन्न होने वाले रोमाञ्च, कम्प, अश्रु के तरङ्गों का सेवन करने वाले श्रीगुरुदेव के श्रीचरणारविन्द की मैं वन्दना करता हूँ ॥ २॥

श्रीविग्रहाराधननित्यनाना,
शृङ्गारतन्मन्दिरमार्जनादौ।
युक्तस्य भक्तांश्च नियुञ्जतोऽपि,
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥ ३॥

इष्टदेव श्रीराधागोविन्ददेवजी के श्रीविग्रह की आराधना, नित्य नाना प्रकार का शृङ्गार, उनके मन्दिर की साफ-सफाई आदि नित्य नाना प्रकार की सेवा में स्वयं लगे रहने वाले; तथा भक्तों को भी भगवत् सेवाओं में नियुक्त करने वाले श्रीगुरुदेव के श्रीचरणकमल की मैं वन्दना करता हूँ॥ ३॥

चतुर्विधश्रीभगवत्प्रसाद,
स्वाद्वन्नतृप्तान् हरिभक्तसङ्घान्।
कृत्वैव तृप्तिं भजतः सदैव,
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥ ४॥

हरिभक्तों को चार प्रकार (चर्व्य, चोष्य, लेह्य और पेय) के श्रीभगवत्प्रसाद सुस्वादु अन्न के द्वारा सदैव परितृप्त करके स्वयं तृप्त होने वाले श्रीगुरुदेव के श्रीचरणसरोज की मैं वन्दना करता हूँ॥ ४॥

श्रीराधिकामाधवयोरपार,
माधुर्यलीलागुणरूपनाम्नाम्।
प्रतिक्षणाऽस्वादनलोलुपस्य,
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥ ५॥

श्रीराधामाधव के अपार माधुर्य-लीला-गुण-रूप-नाम का प्रतिक्षण आस्वादन करने के लिए लालायित रहने वाले श्रीगुरुदेव के श्रीचरणारविन्द की मैं वन्दना करता हूँ॥ ५॥

निकुञ्जयूनोरतिकेलिसिद्ध्यै,
या यालिभिर्युक्तिरपेक्षणीया।
तत्रातिदाक्ष्यादतिवल्लभस्य,
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥ ६॥

श्रीराधाकृष्ण के क्रीड़ा की सिद्धि के लिए आलिवृन्द के द्वारा जिन जिन युक्तियों की अपेक्षा है उन उन युक्तियों में अतिशय दक्ष होने के कारण उनके अतिशय प्रिय श्रीगुरुदेव के श्रीचरणकमल की मैं वन्दना करता हूँ॥ ६॥

साक्षाद्धरित्वेन समस्तशास्त्रै,-
रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः।
किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य,
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥ ७॥

समस्त शास्त्रों में श्रीगुरुदेव को साक्षात् श्रीहरि का

स्वरूप कहा गया है तथा सज्जनों के द्वारा उसी प्रकार भावना भी किया जाता है; किन्तु प्रभु के जो अतिशय प्रिय हैं, मैं उन्हीं श्रीगुरुदेव के श्रीचरणारविन्द की वन्दना करता हूँ॥ ७॥

यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो,
यस्याऽप्रसादान्न गतिः कुतोऽपि।
ध्यायंस्तुवंस्तस्य यशस्त्रिसन्ध्यं,
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥ ८॥

जिनके प्रसाद से भगवान् का प्रसाद प्राप्त होता है एवं जिनकी अप्रसन्नता से कहीं भी गति नहीं होती है, उन श्रीगुरुदेव के यश का तीनों सन्ध्याओं में ध्यान एवं स्तुति करता हुआ मैं उनके श्रीचरणकमल की वन्दना करता हूँ॥ ८॥

श्रीमद्गुरोरष्टकमेतदुच्चै, -
ब्राह्मे मुहूर्त्ते पठति प्रयत्नात्।
यस्तेन वृन्दावननाथसाक्षात्,
सेवैव लभ्या जनुषोऽन्त एव॥ ९॥

जो व्यक्ति ब्रह्ममुहूर्त्त में इस श्रीगुर्व्वाष्टक को प्रयत्नपूर्व्वक ऊँचे स्वर से पढ़ता है, वह व्यक्ति अपने देहावसान के बाद श्रीवृन्दावननाथ भगवान् श्रीकृष्ण की साक्षात् सेवा को प्राप्त करता है॥ ९॥

सेवापराध और नामापराध का यत्नपूर्वक वर्जन

भक्ति में आगे बढ़ने के लिए अति आवश्यक है कि सेवापराध और नामापराध का विषेश यत्न के साथ वर्जन किया जाय। भगवान और उनसे सम्बन्धित बस्तुओं के प्रति उनकी सेवा के समय जो अपराध होते हैं उन्हें सेवापराध कहते हैं। भगवन्नाम के प्रति जो अपराध होते हैं उन्हें नामापराध कहते हैं।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (१/२/११८-१२०) में इन अपराधों का विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ है। यहाँ 'श्रीमद्भगवद्गीतोक्त भगवत्प्राप्ति का उपाय' नामक इस पुस्तक में भक्तों के हित के लिए टीका सहित इन अपराधों का वर्णन किया जा रहा है ताकि इस पुस्तक के अध्ययनकर्त्ता भक्तजन इन अपराधों का वर्जन करके भक्तिपथ में शीघ्रता पूर्वक अग्रसर हो सकें।

सेवा-नामापराधानां वर्जनं, यथा वाराहे—

ममार्चनापराधा ये कीर्त्त्यन्ते वसुधे! मया।
वैष्णवेन सदा ते तु वर्जनीयाः प्रयत्नतः॥

(भ.र.सि. १/२/११८)

पाद्मे च

सर्वापराधकृदपि मुच्यते हरिसंश्रयः।
हरेरप्यपराधान् यः कुर्य्याद् द्विपदपांशुलः॥
नामाश्रयः कदाचित् स्यात्तरत्येव स नामतः।
नाम्नो हि सर्वसुहृदो ह्यपराधात्पतत्यधः॥

(भ.र.सि. १/२/११९, १२०)

सेवापराध एवं नामापराध का वर्जन करना कर्त्तव्य है। जैसाकि वराह पुराण में कहा गया है–

हे वसुधे! मेरे अर्चन के विषय में जो अपराध मैंने कहे हैं, वैष्णवों के लिए उन सब अपराधों का यत्नपूर्वक सदा वर्जन करना आवश्यक है।

पद्म पुराण में भी कहा गया है–

समस्त अपराधों को करने वाला व्यक्ति भी श्रीहरि का आश्रय करने से अपराधों से मुक्त हो जाता है। जो द्विपद पापिष्ठ व्यक्ति श्रीहरि के प्रति अपराध करता रहता है वह भी कदाचित् श्रीहरिनाम का आश्रय लेने पर हरिनाम के द्वारा परित्राण पा जाता है, किन्तु सबके सुहृद श्री हरिनाम के पास अपराध करने से अध:पतन अवश्य होगा।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठक्कुर कृत

भक्तिसार-प्रदर्शिनी टीका

सेवानामापराधानां वर्जनमित्यादि यथा– वाराहे पाद्मे च

यथाक्रमं योज्यं। तत्र सेवापराधा आगमानुसारेण गण्यन्ते—

"यानैर्वा पादुकैर्वापि गमनं भगवद्गृहे।
देवोत्सवाद्यसेवा च अप्रणामस्तदग्रतः॥
उच्छिष्टे वाऽप्यशौचे वा भगवद्वन्दनादिकम्।
एकहस्तप्रणामश्च तत्पुरस्तात् प्रदक्षिणम्॥
पादप्रसारणञ्चाग्रे तथा पर्यङ्कबन्धनम्।
शयनं भक्षणञ्चैव मिथ्याभाषणमेव च॥

[पर्यङ्कबन्धनमिति वस्त्रादिना सङ्कुचितचरणद्वयसहित मध्यदेशबन्धनम्।]

उच्चैर्भाषा मिथो जल्पो रोदनादि च विग्रहः।
निग्रहानुग्रहौ चैव नृषु च क्रूरभाषणम्॥
कम्बलावरणञ्चैव परनिन्दा परस्तुतिः।
अश्लीलभाषणञ्चैव अधोवायुविमोक्षणम्॥
शक्तौ गौणोपचारश्च अनिवेदितभक्षणम्।
तत्तत्कालोद्भवानाञ्च फलादीनामनर्पणम्॥
विनियुक्तावशिष्टस्य प्रदानं व्यञ्जनादिके।
पृष्ठीकृत्यासनञ्चैव परेषामभिवादनम्॥
गुरौ मौनं निजस्तोत्रं देवतानिन्दनस्तथा।
अपराधास्तथा विष्णोर्द्वात्रिंशत्परिकीर्त्तिताः॥"

वाराहे च येऽन्येऽपराधास्ते सङ्क्षिप्य लिख्यन्ते—

"राजान्नभक्षणं। ध्वान्तागारे हरेः स्पर्शः। विधिं विना

हर्य्युपसर्पणम्। वाद्यं विना तद्वारोद्घाटनम्। कुक्कुरदृष्टभक्ष्यसङ्ग्रहः। अर्च्चने मौनभङ्गः। पूजाकाले विड्उत्सर्गाय सर्पणम्। गन्धमाल्यादिकमदत्वा धूपनम्। अनर्हपुष्पेण पूजनम्।" तथा–

"अकृत्वा दन्तकाष्ठञ्च कृत्वा निधुवनं तथा।
स्पृष्ट्वा रजस्वलां दीपं तथा मृतकमेव च॥
रक्तं नीलमधौतं च पारक्यं मलिनं पटम्।
परिधाय मृतं दृष्ट्वा विमुच्यापानमारुतम्॥
क्रोधं कृत्वा श्मशानञ्च गत्वा भुक्त्वाप्यजीर्णयुक्।
भुक्त्वा कुसुम्भं पिण्याकं तैलाभ्यङ्गं विधाय च॥
हरेः स्पर्शो हरेः कर्मकरणं पातकावहम्॥"

तथा तत्रैवान्यत्र–

"भगवच्छास्त्रानादरेण तत्प्रतिपत्तिः। अन्यशास्त्रप्रवर्त्तनम्। तदग्रतस्ताम्बूलचर्वणम्। एरण्डपत्रस्थपुष्पैरर्च्चनम्। आसुरकाले पूजनम्, पीठे भूमौ चोपविश्य पूजनम्। स्नपनकाले वामहस्तेन तत्स्पर्शः। पर्य्युषितैर्याचितैर्वा पुष्पैरर्चनम्। पूजायां निष्ठीवनम्। तस्यां स्वगर्वप्रतिपादनम्। तिर्य्यक्पुण्ड्रधृतिः। अप्रक्षालितपादत्वेऽपि तन्मन्दिरे प्रवेशः। अवैष्णवपक्वनिवेदनम्। अवैष्णवदृष्टौ पूजनम्। विघ्नेशमपूजयित्वा कापालिनं दृष्ट्वा वा पूजनम्। नखाम्भसा स्नपनम्। घर्म्माम्बुलिप्तत्वे पूजनमित्यादयः'।

अन्यत्र 'निर्माल्यलङ्घनं भगवच्छपथादयोऽन्ये च बहवः" इति।

अथ नामापराधाश्च पाद्मोक्ताः—

(१) सतां निन्दा।

(२) श्रीविष्णोः सकाशाच्छिवनामादेः स्वातन्त्र्यमननम्।

(३) गुर्ववज्ञा।

(४) श्रुतितदनुगतशास्त्रनिन्दनम्।

(५) हरिनाममहिम्नि अर्थवादमात्रमिदमिति मननम्।

(६) तत्र प्रकारान्तरेणार्थकल्पनम्।

(७) नामबलेन पापे प्रवृत्तिः।

(८) अन्यशुभक्रियाभिः नामसाम्यमननम्।

(९) अश्रद्दधानादौ नामोपदेशः।

(१०) नाममाहात्म्ये श्रुतेऽप्यप्रीतिरिति।

सर्व एवैते हरिभक्तिविलासे प्रमाणवचनैर्द्रष्टव्याः॥

अनुवाद

सेवा अपराध और नामापराध का वर्णन करते हैं। वराह पुराण एवं पद्म पुराण में जिन अपराधों का वर्णन हुआ है उन्हें क्रमपूर्वक सेवा अपराध और नामापराध विषयक जानना होगा। उसके मध्य में आगम के अनुसार प्रथम सेवापराधों की गिनती करते हैं—

सेवापराध

(१) यान अथवा पादुका के साथ भगवान् के मन्दिर में गमन करना।

(२) देवता के उत्सव आदि की सेवा न करना।

(३) देवता को उनके समक्ष प्रणाम न करना।

(४) उच्छिष्ठ एवं अशौच अवस्था में देवता के कार्य एवं वन्दन आदि करना।

(५) एक हाथ से प्रणाम करना।

(६) देवता के सामने परिक्रमा करना।

(७) देवता के सामने पैर फैलाना।

(८) पर्यङ्क बन्धनकर बैठना अर्थात् घुटनों को हाथ से पकड़कर बैठना।

(९) देवता के सामने सोना।

(१०) देवता के सामने भोजन करना।

(११) देवता के सामने झूठ बोलना।

(१२) देवता के सामने जोर जोर से बोलना।

(१३) देवता के सामने आपस में मिथ्या जल्प करना।

(१४) देवता के सामने रोदन करना।

(१५) देवता के सामने लड़ना-झगड़ना।

(१६) देवता के सामने किसी पर अनुग्रह करना।

(१७) देवता के सामने किसी को निग्रह करना।

(१८) देवता के सामने मनुष्यों के प्रति क्रूर भाषण करना।

(१९) भगवान् के सामने कम्बल आवरण पूर्वक रहना।

(२०) देवता के सामने दूसरे की निन्दा करना।

(२१) देवता के सामने दूसरे की स्तुति करना।

(२२) देवता के सामने अश्लील भाषण करना।

(२३) देवता के सामने अधोवायु छोड़ना।

(२४) सामर्थ्य रहते हुए भी गौणोपचार अर्थात् साधारण सामग्री से, अल्प व्यय से, केवल जल तुलसी से पूजनादि करना।

(२५) देवता को विना निवेदित किये भक्षण करना।

(२६) ऋतु के अनुसार उत्पन्न फलादि का अर्पण न करना।

(२७) व्यञ्जन आदि में से पहले दूसरे को बाँटकर फिर अवशिष्ट भाग को भगवान् को अर्पण करना।

(२८) भगवान् की ओर पीठ करके बैठना ।

(२९) भगवान् के सामने दूसरों को प्रणाम करना।

(३०) श्री गुरुदेव के सामने मौन धारण करके रहना।

(३१)श्री गुरुदेव के समक्ष अपनी प्रशंसा करना।

(३२) देवता की निन्दा करना।

श्री विष्णु के प्रति होने वाले ये बत्तीस अपराध हैं।

वराह पुराण में जो सब अन्य सेवापराध लिखित हैं, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

(३३) "राजा के अन्न भोजन करना (राजा से बन्धानी करना)।

(३४) अन्धेरे में देवता को स्पर्श करना।

(३५) विधि विधान के बिना हरि के समीप में जाना।

(३६) वाद्य के बिना मन्दिर का द्वार खोलना।

(३७) कुक्कुर दृष्ट भक्ष्य संग्रह करना।

(३८) अर्चन में मौन भङ्ग करना।

(३९) पूजा काल में मलमूत्रादि त्याग के लिए जाना।

(४०) गन्ध माल्यादि न देकर धूप देना।

(४१) अविहित पुष्प से अर्चन करना।"

तथा–

(४२) "दन्त काष्ठ न करके पूजन करना।

(४३) सम्भोग करके पूजन करना।

(४४) रजःस्वला को स्पर्श करके पूजन करना।

(४५) प्रदीप को स्पर्श करके पूजन करना।

(४६) मृतक को स्पर्श करके पूजन करना।

(४७) रक्त-नील-अधौत, दूसरे का, तथा मलिन वस्त्र पहन करके हरि का स्पर्श करना एवं उनका कर्म करना।

(४८) मृतक को देख करके हरि का स्पर्श करना एवं उनका कर्म करना।

(४९) अपान वायु छोड़ करके हरि का स्पर्श करना एवं उनका कर्म करना।

(५०) क्रोध करके हरि का स्पर्श करना एवं उनका कर्म करना।

(५१) श्मशान को जा करके हरि का स्पर्श करना एवं उनका कर्म करना।

(५२) अजीर्ण भोजन की अवस्था में हरि का स्पर्श

करना एवं उनका कर्म करना।

(५३) भांग सेवन करके हरि का स्पर्श करना एवं उनका कर्म करना।

(५४) खैल सेवन करके हरि का स्पर्श करना एवं उनका कर्म करना।

(५५) तेल लगा करके हरि का स्पर्श करना एवं उनका कर्म करना।

ये सभी पातकावह कार्य हैं।"

अन्यत्र भी कुछ अपराधों का विवरण इस प्रकार है—

(५६) "भगवत् शास्त्र का अनादर करके दूसरे शास्त्र का प्रतिपादन करना।

(५७) अन्य शास्त्र का प्रवर्त्तन करना।

(५८) भगवान् के सामने पान चबाना।

(५९) एरण्ड पत्र में पुष्प रखकर अर्चन करना।

(६०) आसुरिक काल में पूजन करना।

(६१) पीठ अर्थात् लकड़ी के आसन पर बैठकर पूजन करना।

(६२) भूमि में बैठकर पूजन करना।

(६३) स्नान कराते समय बाँये हाथ से देवता को स्पर्श करना।

(६४) बासी अथवा माँगकर लाये गये पुष्पों से अर्चन

करना।

(६५) पूजा के समय थूकना।

(६६) पूजा के समय अपना गर्व प्रतिपादन करना।

(६७) टेड़ा तिलक धारण करना।

(६८) पाद प्रक्षालन न करके देव मन्दिर में प्रवेश करना।

(६९) अवैष्णव पक्व निवेदन करना।

(७०) अवैष्णव दृष्ट पूजन करना।

(७१) विघ्नेश का पूजन न करके पूजन करना।

(७२) कापालिक को देखकर पूजन करना।

(७३) नाखून के द्वारा स्पर्श किये हुए जल से स्नान कराना।

(७४) पसीनायुक्त शरीर से भगवत् पूजन करना इत्यादि।"

अन्यत्र–

(७५, ७६ आदि) "निर्माल्य लंघन, भगवत् शपथ आदि अन्यान्य अनेक सेवापराध कहे गये हैं।"

पूर्वोक्त वर्णित एवं अन्य सभी सेवापराधों का यत्न पूर्वक वर्जन करना चाहिए।

नामापराध

सेवापराधों के वर्णन के अनन्तर अब नामापराधों का वर्णन पद्म पुराण की उक्ति के अनुसार करते हैं–

(१) सज्जनगणों की निन्दा करना।

(२) शिवजी के नामादि को श्रीविष्णु से स्वतन्त्र मानना।

(३) गुरु की अवज्ञा करना।

(४) श्रुति एवं उसके अनुगत शास्त्रों की निन्दा करना।

(५) श्रीहरिनाम महिमा में अर्थवाद की कल्पना करना।

(६) श्रीहरिनाम महिमा में प्रकारान्तर से अर्थ की कल्पना करना।

(७) नाम के बल से पाप में प्रवृत्त होना।

(८) अन्य शुभ क्रियाओं के साथ नाम को समान मानना।

(९) अश्रद्धालु व्यक्तियों को नामोपदेश देना।

(१०) तथा नाम माहात्म्य को सुनकर भी प्रीति न करना।

ये सभी नामापराध हैं। इन सबका प्रमाण वचन श्रीहरि भक्ति विलास ग्रन्थ में द्रष्टव्य है।

श्रीहरिभक्तिविलास ११/५२१-५२४—

पाद्मे श्रीनारदं प्रति श्रीसनत्कुमारेणैवोक्ताः—

सतां निन्दा नाम्नः परममपराधं वितनुते,
यतः ख्यातिं यातं कथमु सहते तद्विगरिहाम्।
शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह गुणनामादि सकलं,
धिया भिन्नं पश्येत् स खलु हरिनामाहितकरः॥

गुरोरवज्ञा श्रुतिशास्त्रनिन्दनं तथार्थवादो हरिनाम्नि कल्पनम्।
नाम्नो बलाद्यस्य पापबुद्धिर्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः॥
धर्मव्रतत्यागहुतादिसर्व्वशुभक्रियासाम्यमपि प्रमादः।
अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यश्रृण्वति यश्चोपदेशः शिवनामापराधः॥

श्रुतेऽपि नाममाहात्म्ये यः प्रीतिरहितोऽधमः।
अहं ममादिपरमो नाम्नि सोऽप्यपराधकृत्॥

श्रीहरिभक्तिविलास ११/५२१-५२४-

पद्मपुराण में श्रीनारद के प्रति श्रीसनत्कुमार ने निम्नलिखित दस नामापराधों को कहा है-

(१) सज्जनगणों की निन्दा। श्रीनाम के निकट यह निन्दा भयङ्कर अपराध का विस्तार करती है। कारण, जिन नामनिष्ठ साधुगण से जगत् में श्रीकृष्णनाम महिमा प्रचारित होती है, श्रीनाम उन सब साधु की निन्दा को सहन कैसे करेंगे? सुतरां साधुनिन्दा श्रीहरिनाम के पक्ष में सह्य होने वाली नहीं है।

(२) जो मानव इस जगत में श्रीविष्णु के एवं श्रीशिव के नाम, रूप, गुण, लीला प्रभृति को भेद-भाव से देखता है, वह व्यक्ति, निश्चय ही नामापराधी है।

(३) जो मनुष्य गुरु की अवज्ञा करता है, अर्थात् आदर नहीं करता है, उसकी शुद्धि यम नियम ध्यान धारणादि प्रक्रिया समूह के द्वारा अथवा बहुल यमयातना भोग के द्वारा भी नहीं होती है।

(४) जो मनुष्य श्रुति एवं उसके अनुगत शास्त्रों की निन्दा करता है, उसकी शुद्धि यम नियम ध्यान धारणादि प्रक्रिया समूह के द्वारा अथवा बहुल यमयातना भोग के द्वारा भी नहीं होती है।

(५) जो मनुष्य श्रीहरिनाम महिमा में अर्थवाद कल्पना करता है, उसे अति स्तुति मानता है, कल्पित मानता है तथा प्रकारान्तर से अर्थ की कल्पना करता है, उसकी शुद्धि यम

नियम ध्यान धारणादि प्रक्रिया समूह के द्वारा अथवा बहुल यमयातना भोग के द्वारा भी नहीं होती है।

(६) नाम ग्रहण करने पर जब पाप क्षय होता है, तब पाप से डर क्या है, नित्य पाप भी करूँगा और शुद्धि हेतु नाम भी कर लूँगा, इस प्रकार की बुद्धि से जो नाम ग्रहण करता है, उसकी शुद्धि यम नियम ध्यान धारणादि प्रक्रिया समूह के द्वारा अथवा बहुल यमयातना भोग के द्वारा भी नहीं होती है।

(७) धर्म, व्रत, त्याग, होमादि प्राकृत शुभ कार्यों के सहित अप्राकृत नाम ग्रहण को समान मानना नामापराध है।

(८) नाम ग्रहण एवं श्रवण में अनवधान होना, अर्थात् असावधानी से ध्यान न देना नामापराध है।

(९) अविश्वासी, अश्रद्धालु अथवा नाम सुनने में विमुख व्यक्तियों को नामोपदेश देना मङ्गलमय श्रीशिवनाम के निकट अपराध है। यहाँ पर श्रीभगवान् के साथ श्रीशिव का अभेद ज्ञान से ही 'शिव' शब्द का प्रयोग हुआ है।

(१०) जो व्यक्ति अत्यद्भुत नाम माहात्म्य को सुनकर भी उनमें प्रीति नहीं करता है, एवं 'मैं, मेरा' इत्यादि ज्ञान अथवा विविध प्रकार के भोगों में तत्पर होता है, किन्तु नाम ग्रहण नहीं करता है, वह मानव भी निश्चित नामापराधी है।

इन सभी नामापराधों का यत्न पूर्वक वर्जन करना चाहिए।

॥ गोपालनन्दनं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

श्रीहरिदास शास्त्री सम्पादित ग्रन्थावली

(श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस से प्रकाशित)

क्रम सद्ग्रन्थ	मूल्य
१-वेदान्तदर्शनम् भागवतभाष्योपेतम्	१५०.००
२-श्रीनृसिंह चतुर्दशी	१०.००
३-श्रीसाधनामृतचन्द्रिका	२०.००
४-श्रीगौरगोविन्दार्चनपद्धति	२०.००
५-श्रीराधाकृष्णार्चनदीपिका	२०.००
६-७-८-श्रीगोविन्दलीलामृतम्	४५०.००
९-ऐश्वर्यकादम्बिनी	३०.००
१०-श्रीसंकल्पकल्पद्रुम	३०.००
११-१२-चतुःश्लोकीभाष्यम्, श्रीकृष्णभजनामृत	३०.००
१३.प्रेम सम्पुट	४०.००
१४-श्रीभगवद्भक्तिसार समुच्चय	३०.००
१५-ब्रजरीतिचिन्तामणि	४०.००
१६-श्रीगोविन्दवृन्दावनम्	३०.००
१७-श्रीकृष्णभक्तिरत्नप्रकाश	५०.००
१८-श्रीहरेकृष्णमहामन्त्र	५.००
१९-श्रीहरिभक्तिसारसंग्रह	५०.००
२०-धर्मसंग्रह	५०.००
२१-श्रीचैतन्यसूक्तिसुधाकर	१०.००
२२-श्रीनामामृतसमुद्र	१०.००
२३-सनत्कुमारसंहिता	२०.००
२४-श्रुतिस्तुति व्याख्या	१००.००
२५-रासप्रबन्ध	३०.००

२६-दिनचन्द्रिका	२०.००
२७-श्रीसाधनदीपिका	६०.००
२८-स्वकीयात्वनिरास, परकीयात्वनिरूपणम्	१००.००
२९-श्रीराधारससुधानिधि (मूल)	२०.००
३०-श्रीराधारससुधानिधि (सानुवाद)	१००.००
३१-श्रीचैतन्यचन्द्रामृतम्	३०.००
३२-श्रीगौरांग चन्द्रोदय	३०.००
३३-श्रीब्रह्मसंहिता	५०.००
३४-भक्तिचन्द्रिका	३०.००
३५-प्रमेयरत्नावली एवं नवरत्न	५०.००
३६-वेदान्तस्यमन्तक	४०.००
३७-तत्वसन्दर्भः	१००.००
३८-भगवत्सन्दर्भः	१५०.००
३९-परमात्मसन्दर्भः	२००.००
४०-कृष्णसन्दर्भः	२५०.००
४१-भक्तिसन्दर्भः	३००.००
४२-प्रीतिसन्दर्भः	३००.००
४३-दशःश्लोकी भाष्यम्	६०.००
४४-भक्तिरसामृतशेष	१००.००
४५-श्रीचैतन्यभागवत	२००.००
४६-श्रीचैतन्यचरितामृतमहाकाव्यम्	१५०.००
४७-श्रीचैतन्यमंगल	१५०.००
४८-श्रीगौरांगविरुदावली	४०.००
४९-श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृत	१५०.००
५०-सत्संगम्	५०.००
५१-नित्यकृत्यप्रकरणम्	५०.००
५२-श्रीमद्भागवत प्रथम श्लोक	३०.००

५३-श्रीगायत्री व्याख्याविवृति:	१०.००
५४-श्रीहरिनामामृत व्याकरणम्	२५०.००
५५-श्रीकृष्णजन्मतिथिविधि:	३०.००
५६-५७-५८-श्रीहरिभक्तिविलास:	६००.००
५९-काव्यकौस्तुभ:	१००.००
६०-श्रीचैतन्यचरितामृत	२५०.००
६१-अलंकारकौस्तुभ	२५०.००
६२-श्रीगौरांगलीलामृतम्	३०.००
६३-शिक्षाष्टकम्	१०.००
६४-संक्षेप श्रीहरिनामामृत व्याकरणम्	८०.००
६५-प्रयुक्ताख्यात मंजरी	२०.००
६६-छन्दो कौस्तुभ	५०.००
६७-हिन्दुधर्मरहस्यम् वा सर्वधर्मसमन्वय:	५०.००
६८-साहित्य कौमुदी	१००.००
६९-गोसेवा	४०.००
७०-पवित्र गो	५०.००
७१-गोसेवा (गोमांसादि भक्षण विधिनिषेध विवेचन)	५०.००
७२.रस विवेचनम्	५०.००
७३-अहिंसा परमो धर्म:	११०.००
७४-भक्ति सर्वस्वम्	५०.००
७५-उत्तमा-भक्ति का लक्षण एवं माहात्म्य (श्रीश्रीभक्तिरसामृतसिन्धु: भगवद्भक्तिभेदनिरूपक: प्रथमालहरी— सामान्यभक्ति:)	१५०.००
७६-श्रीमद्भगवद्गीतोक्त भगवत्प्राप्ति का उपाय	५०.००

बंगाक्षर में मुद्रित ग्रन्थ

१-श्रीबलभद्रसहस्रनाम स्तोत्रम्	१०.००

२-दुर्लभसार	१०.००
३-साधकोल्लास	५०.००
४-भक्तिचन्द्रिका	४०.००
५-श्रीराधारससुधानिधि (मूल)	२०.००
६-श्रीराधारससुधानिधि (सानुवाद)	३०.००
७-श्रीभगवद्भक्तिसार समुच्चय	३०.००
८-भक्तिसर्वस्व	३०.००
९-मन:शिक्षा	३०.००
१०-पदावली	३०.००
११-साधनामृतचन्द्रिका	४०.००
१२-भक्तिसंगीतलहरी	२०.००

अंग्रेजी भाषा में मुद्रित ग्रन्थ

१-पद्यावली (Padyavali)	२००.००
२-गोसेवा (Goseva)	५०.००
३-पवित्र गो (The Pavitra Go)	८०.००
४. A Review of "Beef in ancient India"	२००.००
५. Dinachandrika	५०.००

अन्य भाषाओं में मुद्रित ग्रन्थ

१. Pavitra Go	(Spanish)
२- Goseva Pavitra Go	(Italian)
३-गोसेवा (गोमांसादि भक्षण विधिनिषेध विवेचन)	(तमिल)

वी.सी.डी.

१- श्रीहरिदास– निवास एक परिचय	(हिन्दी)

गौशाला

श्रीहरिदास निवास आश्रम में एक बृहद् गौशाला है, जिसमें गोवंश की संख्या लगभग २२५ है। यहाँ पर गायों की सेवा उनके अनुकूल रूप में की जाती है न कि व्यवसाय की दृष्टि से। गायें श्रीकृष्ण की भी पूज्य हैं जो कि उनकी भौमलीला से विदित होता है। उनको ही आदर्श मानकर यहाँ पर गाय की सेव्यरूप में सेवा की जाती है। गोसेवा के लिए '**श्रीहरिदास शास्त्री गोसेवा संस्थान**' की स्थापना की गयी है। तथा तेहरा ग्राम में ४.५९२ हेक्टेयर भूमि भी खरीदी गयी है। वहाँ पर भी बृहद् गौशाला है। वृद्धावस्था में भी महाराजश्री स्वयं गोसेवा करते हैं। आश्रम का वातावरण प्राचीन समय के ऋषिकुलों जैसा है। आश्रम में '**श्रीगदाधरगौर-श्रीराधागोविन्ददेवजी महाराज का मन्दिर**,' प्राचीन '**श्रीहनुमानजी का मन्दिर**,' '**श्रील विनोद विहारी गोस्वामी महाराजजी का समाधि मन्दिर**' आदि हैं। '**श्रीगौरगदाधर ग्रन्थागारम्**' नामक एक विराट ग्रन्थागार भी है जिसमें प्रचुर प्राचीन मुद्रित एवं हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं। आश्रम की एक '**प्रेस**' भी है, जिसका नाम "**श्रीगदाधर गौरहरि प्रेस**" है। इस प्रेस से अब तक लगभग १०० ग्रन्थों का संस्कृत, हिन्दी, बंगला, तमिल, अंग्रेजी, स्पैनिश, इटालियन आदि भाषाओं में प्रकाशन हो चुका है।

मुद्रक

श्रीगदाधर गौरहरि प्रेस

श्रीहरिदास निवास, पुराना कालीदह, वृन्दावन (मथुरा)

Website: www.sriharidasniwas.org

E-mail: info@sriharidasniwas.org

॥ गोपालनन्दनं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

श्रीहरिदास शास्त्री

संस्थापक एवं अध्यक्ष -

श्रीहरिदास शास्त्री गोसेवा संस्थान

श्रीहरिदास निवास, पुराना कालीदह, वृन्दावन, मथुरा (उ. प्र.)